ISSN: 3048-6726
United International Journal of Multidisciplinary Research (UIJMR)
An International Peer- Reviewed Journal; Volume-1, Issue-1, April-June, 2024, pp.46-55

कश्मीर प्रश्न का ऐतिहासिक विकास (1947–2019): आधुनिक भारतीय इतिहास का समालोचनात्मक अध्ययन

डॉ. प्रदीप कुमार
सहायक प्राध्यापक
इतिहास विभाग
पं. नेकी राम शर्मा राजकीय महाविद्यालय, रोहतक
हरियाणा, भारत

सार

कश्मीर प्रश्न स्वतंत्र भारत के इतिहास का सबसे दीर्घकालिक, जटिल तथा विवादास्पद राजनीतिक विषय रहा है।यह समस्या 1947 में भारत के विभाजन और जम्मू-कश्मीर रियासत के भारत में विलय से प्रारंभ होकर 5 अगस्त 2019 को अनुच्छेद 370 एवं 35A के निरसन तक निरंतर विकसित होती रही।यह शोध-पत्र 1947 से 2019 तक कश्मीर प्रश्न के ऐतिहासिक विकास का क्रमबद्ध, तथ्याधारित और समालोचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करता है।इसमें रियासती शासन की पृष्ठभूमि, विलय की परिस्थितियाँ, भारत-पाक युद्ध, संयुक्त राष्ट्र की भूमिका, विशेष संवैधानिक प्रावधान, केंद्र-राज्य संबंध, 1953 का राजनीतिक संकट, 1989 के बाद उग्रवाद, मानवाधिकार विमर्श तथा 2019 के संवैधानिक निर्णय का ऐतिहासिक मूल्यांकन किया गया है।अध्ययन का उद्देश्य कश्मीर समस्या को केवल सुरक्षा या धार्मिक दृष्टि से नहीं, बल्कि आधुनिक भारतीय राष्ट्र-निर्माण, संघवाद और लोकतांत्रिक प्रक्रिया के संदर्भ में समझना है।यह शोध-पत्र निष्कर्ष रूप में यह तर्क प्रस्तुत करता है कि कश्मीर प्रश्न का समाधान ऐतिहासिक समझ, संवैधानिक संतुलन और विश्वास-निर्माण की प्रक्रिया पर निर्भर करता है।

मुख्य शब्द: कश्मीर प्रश्न, अनुच्छेद 370, भारत-पाक संबंध, उग्रवाद, भारतीय संघवाद, 2019 संवैधानिक परिवर्तन

1. भूमिका

कश्मीर आधुनिक भारतीय इतिहास का एक ऐसा केंद्रीय बिंदु है जहाँ औपनिवेशिक शासन की विरासत, भारत-विभाजन की राजनीति, अंतरराष्ट्रीय कूटनीतिक हस्तक्षेप तथा आंतरिक

ISSN: 3048-6726
United International Journal of Multidisciplinary Research (UIJMR)
An International Peer- Reviewed Journal: Volume 1, Issue 1, April-June, 2024, pp.46-55

लोकतांत्रिक चुनौतियाँ परस्पर गहराई से जुड़ी हुई दिखाई देती हैं।1947 में ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन के अंत और भारतीय उपमहाद्वीप के विभाजन के साथ ही कश्मीर प्रश्न अस्तित्व में आया, जिसने स्वतंत्र भारत की राजनीतिक दिशा और प्राथमिकताओं को गहराई से प्रभावित किया। स्वतंत्रता के बाद कश्मीर केवल एक सीमावर्ती या भौगोलिक क्षेत्र नहीं रहा, बल्कि यह भारतीय राष्ट्र-राज्य की राष्ट्रीय पहचान, संघीय संरचना, संवैधानिक लचीलेपन और सुरक्षा नीति का एक महत्त्वपूर्ण प्रतीक बन गया।कश्मीर से जुड़े घटनाक्रमों ने न केवल भारत और पाकिस्तान के बीच संबंधों को लगातार तनावपूर्ण बनाए रखा, बल्कि भारतीय राजनीति के भीतर भी संघवाद, स्वायत्तता, लोकतंत्र और राष्ट्रीय एकता जैसे मूलभूत प्रश्नों को बार-बार उभारा है।

इतिहास लेखन और राजनीतिक विमर्श में कश्मीर को प्रायः दो अतिवादी दृष्टिकोणों के माध्यम से समझने का प्रयास किया गया है।एक ओर इसे मुख्यतः सुरक्षा, सामरिक हितों और सीमा-विवाद के संदर्भ में प्रस्तुत किया गया है, जहाँ मानवीय और सामाजिक पहलू गौण हो जाते हैं।दूसरी ओर, इसे भावनात्मक राष्ट्रवादी विमर्श के अंतर्गत सरलीकृत रूप में रखा गया है, जिसमें ऐतिहासिक जटिलताओं और स्थानीय राजनीतिक वास्तविकताओं की उपेक्षा दिखाई देती है।इन दोनों दृष्टिकोणों के कारण कश्मीर प्रश्न की ऐतिहासिक समझ एकांगी और अधूरी रह जाती है।

प्रस्तुत अध्ययन का उद्देश्य इन अतिवादी व्याख्याओं से हटकर कश्मीर प्रश्न के ऐतिहासिक विकास का संतुलित, तथ्यपरक और अकादमिक विश्लेषण करना है।यह शोध 1947 से 2019 तक की प्रमुख राजनीतिक, संवैधानिक और सामाजिक घटनाओं को ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में रखकर यह स्पष्ट करने का प्रयास करता है कि कश्मीर समस्या किसी एक निर्णय या घटना का परिणाम नहीं है।बल्कि यह समय-समय पर लिए गए नीतिगत निर्णयों, केंद्र-राज्य संबंधों में आए परिवर्तनों, अंतरराष्ट्रीय परिस्थितियों तथा आंतरिक राजनीतिक प्रक्रियाओं का संयुक्त परिणाम है।इस प्रकार कश्मीर प्रश्न को एक स्थिर या जड़ समस्या के रूप में देखने के बजाय, इसे एक निरंतर परिवर्तनशील ऐतिहासिक प्रक्रिया के रूप में समझना आवश्यक है, जो आधुनिक भारतीय इतिहास की जटिलताओं को प्रतिबिंबित करती है।

2. 1947 से पूर्व जम्मू-कश्मीर की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन के दौरान जम्मू-कश्मीर एक प्रमुख रियासत के रूप में अस्तित्व में था, जिस पर 1846 से डोगरा वंश का शासन स्थापित था।अमृतसर संधि (1846) के माध्यम से अंग्रेज़ों ने कश्मीर को गुलाब सिंह को सौंपा, जिससे यह क्षेत्र औपनिवेशिक सत्ता और स्थानीय राजतंत्र के संयुक्त नियंत्रण में आ गया।डोगरा शासन के अंतर्गत राजनीतिक सत्ता अत्यधिक केंद्रीकृत थी और आम जनता की भागीदारी सीमित रही।महाराजा हरि सिंह के शासनकाल (1925–1947) में राज्य सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक असमानताओं से ग्रस्त था।भूमि स्वामित्व, कर-प्रणाली और प्रशासनिक ढांचे में व्यापक असंतोष व्याप्त था, विशेषतः मुस्लिम बहुसंख्यक आबादी के बीच,

ISSN: 3048-6726
United International Journal of Multidisciplinary Research (UIJMR)
An International Peer-Reviewed Journal; Volume 1, Issue 1, April-June, 2024, pp.46-55

जबकि शासक वर्ग और उच्च प्रशासन में हिंदू अल्पसंख्यक की प्रधानता थी।इस संरचनात्मक असंतुलन ने शासन और जनता के बीच गहरी दूरी उत्पन्न की (बोस, 2003)।

बीसवीं शताब्दी के आरंभिक दशकों में कश्मीर में राजनीतिक चेतना का क्रमिक विकास हुआ।1931 के जनांदोलन को कश्मीर की आधुनिक राजनीतिक चेतना का प्रारंभिक बिंदु माना जाता है, जिसने रियासती शासन की वैधता को गंभीर चुनौती दी।इसी पृष्ठभूमि में शेख अब्दुल्ला के नेतृत्व में मुस्लिम कॉन्फ्रेंस की स्थापना हुई, जिसे बाद में 1939 में नेशनल कॉन्फ्रेंस में परिवर्तित किया गया। नेशनल कॉन्फ्रेंस ने धर्मनिरपेक्ष, लोकतांत्रिक और जनोन्मुख राजनीति को अपनाते हुए "नया कश्मीर" कार्यक्रम प्रस्तुत किया, जिसमें भूमि सुधार, सामाजिक न्याय और लोकतांत्रिक शासन की मांग प्रमुख थी (अब्दुल्ला, 1980)।

1946 का "कश्मीर छोड़ो आंदोलन" रियासती निरंकुशता के विरुद्ध एक निर्णायक मोड़ सिद्ध हुआ। इस आंदोलन ने महाराजा की सत्ता को प्रत्यक्ष रूप से चुनौती दी और जनता की राजनीतिक आकांक्षाओं को संगठित स्वर प्रदान किया।इतिहासकारों के अनुसार, यह आंदोलन केवल एक राजनीतिक संघर्ष नहीं था, बल्कि यह कश्मीर में औपनिवेशिक संरचना और राजतंत्रीय शासन दोनों के विरुद्ध जनचेतना की अभिव्यक्ति था (राय, 2004)।इस प्रकार 1947 से पूर्व की यह ऐतिहासिक पृष्ठभूमि—राजनीतिक दमन, सामाजिक असमानता और उभरती जन-राजनीति—ने कश्मीर के भारत में विलय और उसके बाद की राजनीतिक दिशा को गहराई से प्रभावित किया।

3. भारत में विलय और प्रथम भारत-पाक युद्ध (1947–1949)

1947 में ब्रिटिश भारत के विभाजन के समय रियासतों को भारत या पाकिस्तान में विलय अथवा स्वतंत्र रहने का विकल्प प्रदान किया गया।जम्मू-कश्मीर के शासक महाराजा हरि सिंह ने प्रारंभ में स्वतंत्र रहने की नीति अपनाई, जिसे उन्होंने "स्टैंडस्टिल एग्रीमेंट" के माध्यम से व्यवहार में लाने का प्रयास किया।किंतु यह स्थिति अधिक समय तक स्थिर नहीं रह सकी।अक्टूबर 1947 में उत्तर-पश्चिम सीमा प्रांत से कबायली लड़ाकों के आक्रमण ने कश्मीर की आंतरिक सुरक्षा को गंभीर संकट में डाल दिया।इस आक्रमण के कारण प्रशासनिक व्यवस्था चरमरा गई और श्रीनगर पर वास्तविक खतरा उत्पन्न हो गया।ऐसी परिस्थितियों में महाराजा हरि सिंह ने भारत से सैन्य सहायता की मांग की और 26 अक्टूबर 1947 को भारत के साथ विलय-पत्र पर हस्ताक्षर किए (मेनन, 1956)।

विलय के तुरंत बाद भारतीय सेना की तैनाती हुई, जिससे भारत और पाकिस्तान के बीच सशस्त्र संघर्ष प्रारंभ हो गया।1947–48 का भारत-पाक युद्ध कश्मीर के इतिहास में एक निर्णायक घटना सिद्ध हुआ, जिसने इस क्षेत्र को स्थायी विवाद में बदल दिया।युद्ध के दौरान दोनों देशों ने कश्मीर के विभिन्न हिस्सों पर नियंत्रण स्थापित किया।जनवरी 1948 में भारत द्वारा संयुक्त राष्ट्र में इस मुद्दे को ले जाने से कश्मीर प्रश्न का अंतरराष्ट्रीयकरण हुआ।संयुक्त राष्ट्र की मध्यस्थता के परिणामस्वरूप

ISSN: 3048-6726
United International Journal of Multidisciplinary Research (UIJMR)
An International Peer-Reviewed Journal; Volume 1, Issue 1, April-June 2024, pp.46-55

1949 में युद्धविराम लागू हुआ और युद्धविराम रेखा अस्तित्व में आई, जिसे बाद में नियंत्रण रेखा के रूप में जाना गया (संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद, 1948–49)।

यह विभाजन केवल भौगोलिक नहीं था, बल्कि इसके राजनीतिक, सामाजिक और मनोवैज्ञानिक प्रभाव दूरगामी सिद्ध हुए।कश्मीर का एक हिस्सा भारतीय प्रशासन के अंतर्गत आया, जबकि दूसरा हिस्सा पाकिस्तान के नियंत्रण में चला गया।इस विभाजन ने कश्मीरी समाज को भी विभाजित किया और राजनीतिक अनिश्चितता को जन्म दिया।इतिहासकारों का मानना है कि इस युद्ध और अंतरराष्ट्रीय हस्तक्षेप ने कश्मीर को एक अस्थायी समाधान में बाँध दिया, जो आगे चलकर स्थायी विवाद का रूप ले गया (गांगुली, 2016)।इस प्रकार 1947–49 का कालखंड कश्मीर प्रश्न की संरचना निर्धारित करने वाला निर्णायक चरण रहा, जिसने स्वतंत्र भारत की राजनीति, सुरक्षा नीति और विदेश संबंधों को गहराई से प्रभावित किया।

4. संयुक्त राष्ट्र और कश्मीर का अंतरराष्ट्रीयकरण

जनवरी 1948 में भारत द्वारा कश्मीर प्रश्न को संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद में ले जाना आधुनिक भारतीय कूटनीतिक इतिहास का एक निर्णायक क्षण था।यह निर्णय तत्कालीन प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू की उस आशा से प्रेरित था कि अंतरराष्ट्रीय मंच पर भारत की स्थिति नैतिक और कानूनी दृष्टि से सुदृढ़ सिद्ध होगी।संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद ने कश्मीर पर कई प्रस्ताव पारित किए, जिनमें युद्धविराम, सैन्य बलों की क्रमिक वापसी और अंततः जनमत संग्रह कराने की सिफारिश की गई थी (संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद, 1948) किंतु व्यवहार में यह प्रक्रिया कभी पूरी नहीं हो सकी।

जनमत संग्रह की विफलता के पीछे कई व्यावहारिक और राजनीतिक कारण थे।भारत का तर्क था कि पाकिस्तान ने प्रस्तावों की शर्तों—विशेषतः अपने सैनिकों और कबायली बलों की पूर्ण वापसी—का पालन नहीं किया, जिससे जनमत संग्रह की पूर्वशर्तें ही पूरी नहीं हो सकीं।वहीं पाकिस्तान ने भारत पर प्रक्रिया को जानबूझकर विलंबित करने का आरोप लगाया।समय के साथ कश्मीर में राजनीतिक परिस्थितियाँ भी बदलती गईं, जिससे 1950 के दशक के बाद जनमत संग्रह की प्रासंगिकता पर प्रश्नचिह्न लगने लगे (गांगुली, 2016)।

संयुक्त राष्ट्र में कश्मीर मुद्दे के उठाए जाने से यह प्रश्न अंतरराष्ट्रीय राजनीति का स्थायी हिस्सा बन गया।शीत युद्ध के दौर में अमेरिका, सोवियत संघ और चीन जैसे देशों के रणनीतिक हित भी कश्मीर विमर्श से जुड़ते चले गए।1950 के बाद भारत ने धीरे-धीरे यह रुख अपनाया कि कश्मीर भारत का आंतरिक मामला है और इसका समाधान द्विपक्षीय स्तर पर ही संभव है।यही दृष्टिकोण 1972 के शिमला समझौते में औपचारिक रूप से परिलक्षित हुआ, जहाँ भारत और पाकिस्तान ने कश्मीर को द्विपक्षीय मुद्दा घोषित किया (बोस, 2003)।

ISSN: 3048-6726
United International Journal of Multidisciplinary Research (UIJMR)
An International Peer- Reviewed Journal; Volume 1, Issue 1, April-June 2024, pp 46-55

इस अंतरराष्ट्रीयकरण का दीर्घकालिक प्रभाव यह रहा कि कश्मीर प्रश्न भारत-पाक संबंधों में स्थायी तनाव का स्रोत बन गया। साथ ही, संयुक्त राष्ट्र की भूमिका ने कश्मीर को वैश्विक मानवाधिकार और आत्मनिर्णय के विमर्श से भी जोड़ दिया। इतिहासकारों के अनुसार, संयुक्त राष्ट्र हस्तक्षेप ने न तो पूर्ण समाधान दिया और न ही संघर्ष को समाप्त किया, बल्कि इसने कश्मीर को एक "अधूरा अंतरराष्ट्रीय विवाद" बना दिया, जो आज भी वैश्विक राजनीति में समय-समय पर उभरता रहता है (राघवन, 2010)।

5. अनुच्छेद 370 और विशेष संवैधानिक व्यवस्था

भारतीय संविधान में अनुच्छेद 370 के अंतर्गत जम्मू-कश्मीर को एक विशेष संवैधानिक दर्जा प्रदान किया गया, जो अन्य भारतीय राज्यों से भिन्न था। यह प्रावधान संविधान सभा में कश्मीर की विशिष्ट ऐतिहासिक और राजनीतिक परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए शामिल किया गया। इसके अंतर्गत जम्मू-कश्मीर को अपना पृथक संविधान बनाने, आंतरिक मामलों में स्वायत्तता रखने तथा सीमित केंद्रीय कानूनों को ही लागू करने का अधिकार दिया गया। रक्षा, विदेश नीति और संचार जैसे विषय केंद्र के अधिकार क्षेत्र में रखे गए, जबकि शेष विषय राज्य सरकार के अधीन रहे (ऑस्टिन, 1999)।

अनुच्छेद 370 को संविधान में "अस्थायी प्रावधान" के रूप में वर्णित किया गया था, किंतु व्यवहार में यह कश्मीर की विशिष्ट पहचान और भारत के संघीय ढांचे का एक स्थायी अंग बन गया। कश्मीर के नेताओं, विशेषकर शेख अब्दुल्ला, ने इसे भारत और जम्मू-कश्मीर के बीच विश्वास और सहमति का संवैधानिक आधार माना। दूसरी ओर, भारतीय राजनीतिक विमर्श में इसे लेकर मतभेद उभरते रहे। कुछ विद्वानों और राजनीतिक समूहों ने इसे संघीय लचीलेपन और बहुलतावादी भारत का उदाहरण माना, जबकि अन्य ने इसे राष्ट्रीय एकीकरण में बाधा के रूप में देखा (नूरानी, 2011)।

समय के साथ अनुच्छेद 370 के तहत दी गई स्वायत्तता धीरे-धीरे सीमित होती चली गई। राष्ट्रपति आदेशों और संवैधानिक संशोधनों के माध्यम से अनेक केंद्रीय कानून जम्मू-कश्मीर में लागू किए गए, जिससे विशेष दर्जे की वास्तविकता कमजोर पड़ती गई। इसके बावजूद अनुच्छेद 370 कश्मीर की राजनीतिक चेतना और पहचान का केंद्रीय प्रतीक बना रहा। इतिहासकारों का मत है कि यह प्रावधान न तो पूर्ण स्वायत्तता प्रदान करता था और न ही पूर्ण एकीकरण, बल्कि यह एक मध्यवर्ती व्यवस्था थी, जो कश्मीर की जटिल परिस्थितियों का परिणाम थी (बोस, 2021)।

इस प्रकार अनुच्छेद 370 को केवल कानूनी प्रावधान के रूप में नहीं, बल्कि एक ऐतिहासिक समझौते और राजनीतिक प्रयोग के रूप में देखना आवश्यक है, जिसने दशकों तक कश्मीर और भारतीय संघ के संबंधों को परिभाषित किया।

6. 1953 का संकट और केंद्र-राज्य संबंध

ISSN: 3048-6726
United International Journal of Multidisciplinary Research (UIJMR)
An International Peer-Reviewed Journal: Volume 1, Issue 1, April-June, 2024, pp. 46-55

1953 का राजनीतिक संकट कश्मीर के इतिहास में एक निर्णायक मोड़ सिद्ध हुआ। इसी वर्ष शेख अब्दुल्ला को जम्मू-कश्मीर के प्रधानमंत्री पद से बर्खास्त कर गिरफ़्तार कर लिया गया। यह घटना केवल सत्ता परिवर्तन नहीं थी, बल्कि इसने कश्मीर और केंद्र सरकार के बीच संबंधों की दिशा को स्थायी रूप से बदल दिया। शेख अब्दुल्ला की बढ़ती स्वायत्ततावादी सोच और उनकी नीतियों को केंद्र सरकार ने राष्ट्रीय एकता के लिए चुनौती के रूप में देखा (राय, 2004)।

शेख अब्दुल्ला की बर्खास्तगी के बाद बख्शी गुलाम मोहम्मद को सत्ता में लाया गया, जिन्हें केंद्र का समर्थक माना जाता था। इस परिवर्तन ने कश्मीर की लोकतांत्रिक प्रक्रिया को गहरी चोट पहुँचाई। कश्मीर में यह धारणा प्रबल हुई कि केंद्र सरकार राज्य की राजनीति में प्रत्यक्ष हस्तक्षेप कर रही है। इससे जनता में राजनीतिक अलगाव और अविश्वास की भावना मजबूत हुई, जिसका प्रभाव आगे के दशकों तक दिखाई देता है (गांगुली एवं बाजपेयी, 1994)।

1953 के बाद केंद्र-राज्य संबंधों में असंतुलन स्पष्ट रूप से बढ़ा। राष्ट्रपति शासन, अनुच्छेद 356 का प्रयोग और चुनावी प्रक्रियाओं में हस्तक्षेप ने कश्मीर की स्वायत्तता को धीरे-धीरे सीमित किया। यद्यपि इन कदमों को राष्ट्रीय एकीकरण और स्थिरता के नाम पर उचित ठहराया गया, किंतु इतिहासकारों का मत है कि इससे कश्मीर में लोकतांत्रिक संस्थाएँ कमजोर हुईं और वैध राजनीतिक असहमति के लिए स्थान संकुचित होता गया (बोस, 2003)।

इस प्रकार 1953 का संकट कश्मीर प्रश्न के इतिहास में एक संरचनात्मक परिवर्तन का बिंदु था, जिसने केंद्र-राज्य संबंधों को अविश्वास और नियंत्रण की राजनीति की ओर मोड़ दिया। यही अविश्वास आगे चलकर राजनीतिक अस्थिरता और संघर्ष की पृष्ठभूमि बना।

7. युद्ध, समझौते और राजनीतिक पुनर्संयोजन (1965–1975)

1965 और 1971 के भारत-पाक युद्धों ने कश्मीर की सामरिक और भू-राजनीतिक महत्ता को और अधिक स्पष्ट कर दिया। 1965 का युद्ध मुख्यतः कश्मीर केंद्रित था, जिसमें पाकिस्तान ने सैन्य और अर्धसैनिक कार्रवाइयों के माध्यम से कश्मीर में विद्रोह भड़काने का प्रयास किया। यह युद्ध निर्णायक रूप से किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुँचा, किंतु इसने कश्मीर को भारत-पाक संघर्ष के स्थायी केंद्र के रूप में स्थापित कर दिया (गांगुली, 2016)।

1971 का युद्ध और बांग्लादेश का निर्माण दक्षिण एशिया की राजनीति में एक बड़ा परिवर्तन था। इसके पश्चात 1972 में भारत और पाकिस्तान के बीच शिमला समझौता हुआ, जिसने कश्मीर को औपचारिक रूप से द्विपक्षीय मुद्दा घोषित किया। इस समझौते के अनुसार, दोनों देश कश्मीर सहित सभी विवादों का समाधान आपसी बातचीत के माध्यम से करेंगे। शिमला समझौता भारत की उस नीति का आधार बना, जिसके अंतर्गत उसने अंतरराष्ट्रीय मध्यस्थता को अस्वीकार किया (राघवन, 2013)।

ISSN: 3048-6726
United International Journal of Multidisciplinary Research (UIJMR)
An International Peer- Reviewed Journal: Volume 1, Issue 1, April-June, 2024, pp 46-55

1975 का इंदिरा-शेख समझौता कश्मीर की आंतरिक राजनीति में एक महत्वपूर्ण पुनर्संयोजन का प्रतीक था।इस समझौते के तहत शेख अद्दुल्ला की सत्ता में वापसी हुई, किंतु बदली हुई शर्तों के साथ। उन्होंने भारत के साथ कश्मीर के स्थायी विलय को स्वीकार किया, जबकि केंद्र सरकार ने सीमित स्वायत्तता बनाए रखने पर सहमति जताई।हालांकि यह समझौता राजनीतिक स्थिरता लाने का प्रयास था, लेकिन कई कश्मीरी समूहों ने इसे "समझौता राजनीति" के रूप में देखा, जिससे असंतोष पूरी तरह समाप्त नहीं हुआ (नूरानी, 2011)।

इस कालखंड में हुए युद्धों और समझौतों ने कश्मीर को अंतरराष्ट्रीय विवाद से अधिक आंतरिक राजनीतिक चुनौती के रूप में रूपांतरित किया।फिर भी, अधूरी राजनीतिक संतुष्टि और सीमित स्वायत्तता ने भविष्य के संघर्षों की संभावनाओं को जीवित रखा।

8. 1989 के बाद उग्रवाद और सामाजिक संकट

1989 के बाद का कालखंड कश्मीर के इतिहास में सबसे अधिक हिंसक और सामाजिक रूप से विघटनकारी चरण के रूप में देखा जाता है।1987 के जम्मू-कश्मीर विधानसभा चुनावों को व्यापक रूप से धांधलीपूर्ण माना गया, जिससे लोकतांत्रिक प्रक्रिया में जनता का विश्वास गहरा आहत हुआ। अनेक विद्वानों का मत है कि इन्हीं चुनावों ने कश्मीर में सशस्त्र उग्रवाद के उदय की पृष्ठभूमि तैयार की (बोस, 2003)।इस दौर में जम्मू-कश्मीर लिबरेशन फ्रंट (JKLF) और बाद में पाकिस्तान-समर्थित संगठनों ने हथियारबंद संघर्ष को अपनाया, जिसके परिणामस्वरूप हिंसा का व्यापक प्रसार हुआ।

उग्रवाद के इस चरण ने कश्मीर के सामाजिक ताने-बाने को गहरी क्षति पहुँचाई।सबसे गंभीर सामाजिक परिणामों में कश्मीरी पंडितों का बड़े पैमाने पर पलायन शामिल था।1990 के प्रारंभिक वर्षों में हज़ारों पंडित परिवारों को घाटी छोड़नी पड़ी, जिससे कश्मीर की बहुलतावादी सामाजिक संरचना को गहरा आघात पहुँचा (पंडित, 2013)।इस पलायन को लेकर राजनीतिक और ऐतिहासिक व्याख्याएँ भिन्न रही हैं, किंतु यह निर्विवाद है कि इससे सामाजिक विश्वास और सह-अस्तित्व की परंपरा कमजोर हुई।

उग्रवाद के जवाब में राज्य में सुरक्षा बलों की व्यापक तैनाती की गई।सशस्त्र बल विशेष अधिकार अधिनियम (AFSPA) जैसे कानूनों के लागू होने से सुरक्षा व्यवस्था तो सुदृढ़ हुई, किंतु इसके साथ ही मानवाधिकार उल्लंघनों के आरोप भी सामने आए।हिरासत में मौत, जबरन गुमशुदगी और मुठभेड़ों को लेकर राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय स्तर पर गंभीर चिंताएँ व्यक्त की गईं (एमनेस्टी इंटरनेशनल, 2015)।इस दौर में कश्मीर अंतरराष्ट्रीय मानवाधिकार विमर्श का केंद्र बन गया, जहाँ भारत की आंतरिक सुरक्षा नीति और लोकतांत्रिक मूल्यों पर प्रश्न उठाए गए।

इतिहासकारों का मानना है कि 1989 के बाद का उग्रवाद केवल बाहरी हस्तक्षेप का परिणाम नहीं था, बल्कि यह आंतरिक राजनीतिक असंतोष, लोकतांत्रिक विफलताओं और पहचान संकट का संयुक्त

ISSN: 3048-6726
United International Journal of Multidisciplinary Research (UIJMR)
An International Peer- Reviewed Journal: Volume 1, Issue 1, April-June 2024, pp 46-55

परिणाम था (गांगुली, 2016)। इस चरण में कश्मीर प्रश्न को सुरक्षा-केंद्रित विमर्श तक सीमित कर दिया, जिससे राजनीतिक समाधान की संभावनाएँ और अधिक जटिल हो गईं।

9. 2000–2014: संवाद, लोकतंत्र और विकास का प्रयास

इक्कीसवीं सदी के प्रारंभिक वर्षों में केंद्र सरकार ने कश्मीर नीति में आंशिक परिवर्तन करते हुए संवाद, लोकतांत्रिक पुनर्स्थापन और विकास पर बल देने का प्रयास किया। 2002 और 2008 के विधानसभा चुनावों को अपेक्षाकृत स्वतंत्र और निष्पक्ष माना गया, जिससे राजनीतिक प्रक्रिया में कुछ हद तक विश्वास बहाल हुआ। इस दौर में "इंसानियत, जम्हूरियत और कश्मीरियत" जैसे नारों के माध्यम से राजनीतिक संवाद को प्रोत्साहित करने की कोशिश की गई (भारत सरकार, 2005)।

पंचायती राज संस्थाओं को सशक्त करने और स्थानीय स्तर पर लोकतंत्र को मजबूत करने के प्रयास भी इस अवधि की प्रमुख विशेषता रहे। आर्थिक विकास के लिए विशेष पैकेजों, बुनियादी ढाँचे के विस्तार और पर्यटन को पुनर्जीवित करने की योजनाएँ शुरू की गईं। इन पहलों से रोजगार और शिक्षा के कुछ अवसर उत्पन्न हुए, किंतु इनका लाभ समाज के सभी वर्गों तक समान रूप से नहीं पहुँच सका (योजना आयोग, 2014)।

इसके बावजूद, यह दौर विरोधाभासों से भरा रहा। 2008 और 2010 में हुए जन-आंदोलनों और हिंसक प्रदर्शनों ने यह स्पष्ट किया कि आर्थिक विकास और चुनावी राजनीति के बावजूद गहरा राजनीतिक असंतोष बना हुआ है। पत्थरबाज़ी, नागरिक हताहत और सुरक्षा बलों के साथ टकराव ने यह संकेत दिया कि कश्मीर समस्या का मूल राजनीतिक प्रश्न अभी भी अनसुलझा है (वर्शनी, 2019)।

अनेक विद्वानों का तर्क है कि इस अवधि में अपनाई गई नीति "संघर्ष प्रबंधन" तक सीमित रही, जबकि "संघर्ष समाधान" की दिशा में ठोस पहल का अभाव रहा। संवाद की प्रक्रिया अनियमित और असंगठित रही, जिससे स्थायी समाधान की संभावनाएँ साकार नहीं हो सकीं (बोस, 2021)। इस प्रकार 2000–2014 का कालखंड आंशिक स्थिरता और निरंतर असंतोष—दोनों का सहअस्तित्व दर्शाता है।

10. 2019: अनुच्छेद 370 का निरसन और नया राजनीतिक चरण

5 अगस्त 2019 को भारत सरकार द्वारा अनुच्छेद 370 और 35A को निष्प्रभावी कर जम्मू-कश्मीर का विशेष संवैधानिक दर्जा समाप्त कर दिया गया। इसके साथ ही राज्य को दो केंद्र शासित प्रदेशों—जम्मू-कश्मीर और लद्दाख—में विभाजित कर दिया गया। यह निर्णय भारतीय संवैधानिक इतिहास में अभूतपूर्व था, क्योंकि पहली बार किसी राज्य का दर्जा घटाकर केंद्र शासित प्रदेश बनाया गया (भारत सरकार, 2019)।

ISSN: 3048-6726
United International Journal of Multidisciplinary Research (UIJMR)
An International Peer- Reviewed Journal; Volume 1, Issue 1, April-June, 2024, pp 46-55

सरकार के अनुसार यह कदम राष्ट्रीय एकीकरण, प्रशासनिक दक्षता और आर्थिक विकास को बढ़ावा देने के उद्देश्य से उठाया गया।तर्क दिया गया कि विशेष दर्जे के कारण कश्मीर में भ्रष्टाचार, अलगाववाद और विकास में बाधाएँ उत्पन्न हुई थीं।दूसरी ओर, आलोचकों ने इस निर्णय को संघीय ढांचे, लोकतांत्रिक प्रक्रिया और संवैधानिक नैतिकता के विरुद्ध बताया।राज्य विधानसभा की अनुपस्थिति में यह निर्णय लिए जाने को लेकर भी गंभीर प्रश्न उठाए गए (नूरानी, 2020)।

2019 के बाद कश्मीर में सुरक्षा प्रतिबंध, संचार अवरोध और राजनीतिक नेतृत्व की हिरासत जैसी परिस्थितियाँ उत्पन्न हुईं, जिसने नागरिक स्वतंत्रताओं को लेकर व्यापक बहस को जन्म दिया। अंतरराष्ट्रीय स्तर पर भी इस निर्णय पर प्रतिक्रियाएँ आईं और मानवाधिकार संगठनों ने स्थिति पर चिंता व्यक्त की (संयुक्त राष्ट्र मानवाधिकार परिषद, 2020)।

इतिहासकारों के अनुसार, 2019 का निर्णय कश्मीर प्रश्न का अंत नहीं, बल्कि उसके इतिहास का एक नया चरण है।यह कदम केंद्र-राज्य संबंधों की दिशा को पुनर्परिभाषित करता है और कश्मीर की राजनीतिक पहचान को नए सांचे में ढालने का प्रयास करता है (बोस, 2021)।किंतु इसकी दीर्घकालिक सफलता इस बात पर निर्भर करेगी कि क्या यह राजनीतिक संवाद, लोकतांत्रिक भागीदारी और सामाजिक विश्वास की पुनर्बहाली का मार्ग प्रशस्त कर पाता है या नहीं।

11. निष्कर्ष

1947 से 2019 तक कश्मीर प्रश्न का ऐतिहासिक अध्ययन यह स्पष्ट करता है कि यह समस्या केवल क्षेत्रीय विवाद या धार्मिक पहचान तक सीमित नहीं रही, बल्कि यह औपनिवेशिक विरासत, विभाजन की राजनीति, संवैधानिक प्रयोगों, केंद्र-राज्य संबंधों और अंतरराष्ट्रीय परिस्थितियों के संयुक्त प्रभाव का परिणाम रही है।स्वतंत्रता के बाद कश्मीर में लिए गए प्रारंभिक राजनीतिक निर्णयों—भारत में विलय, संयुक्त राष्ट्र में मुद्दे का अंतरराष्ट्रीयकरण और विशेष संवैधानिक व्यवस्था—ने इसके भविष्य की दिशा निर्धारित की।समय के साथ लोकतांत्रिक संस्थाओं की कमजोरी, राजनीतिक हस्तक्षेप और जनता की आकांक्षाओं की उपेक्षा ने कश्मीर में अविश्वास और असंतोष को गहरा किया, जो बाद के दशकों में उग्रवाद और सामाजिक संकट के रूप में सामने आया।1989 के बाद की हिंसा और सामाजिक विघटन ने यह स्पष्ट कर दिया कि केवल सुरक्षा-आधारित दृष्टिकोण कश्मीर समस्या का समाधान नहीं हो सकता।इक्कीसवीं सदी के प्रारंभ में संवाद, चुनाव और विकास के प्रयास किए गए, किंतु राजनीतिक प्रश्नों के समाधान के अभाव में स्थायी शांति स्थापित नहीं हो सकी। 5 अगस्त 2019 का संवैधानिक निर्णय इस दीर्घ ऐतिहासिक प्रक्रिया का एक निर्णायक मोड़ है, जिसने कश्मीर की राजनीतिक और संवैधानिक स्थिति को नए सिरे से परिभाषित किया।समर्थकों और आलोचकों—दोनों के दृष्टिकोण इस बात की ओर संकेत करते हैं कि कश्मीर प्रश्न अब एक नए चरण में प्रवेश कर चुका है, जहाँ प्रशासनिक पुनर्गठन के साथ-साथ सामाजिक और राजनीतिक पुनर्संयोजन की चुनौती भी जुड़ी हुई है।इतिहास यह सिखाता है कि कश्मीर जैसे जटिल और

संवेदनशील प्रश्न का समाधान किसी एक निर्णय या नीति से संभव नहीं है। इसके लिए ऐतिहासिक समझ, लोकतांत्रिक भागीदारी, संवाद और विश्वास-निर्माण की निरंतर प्रक्रिया अनिवार्य है। जब तक कश्मीर के लोगों की राजनीतिक आकांक्षाओं और सामाजिक यथार्थ को केंद्र में रखकर समाधान नहीं खोजा जाएगा, तब तक कोई भी राजनीतिक व्यवस्था दीर्घकालिक और टिकाऊ सिद्ध नहीं हो सकती।

संदर्भ सूची

1. अद्दुल्ला, शेख (1980). आग़ाज़ से अंजाम तक (आत्मकथा). श्रीनगर: जम्मू-कश्मीर पब्लिकेशन।
2. ऑस्टिन, ग्रैनविल (1999). भारतीय संविधान का निर्माण और कार्यप्रणाली. नई दिल्ली: ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।
3. बोस, सुमित (2003). कश्मीर: संघर्ष की जड़ें और शांति के मार्ग. कैम्ब्रिज/हार्वर्ड: हार्वर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।
4. बोस, सुमित (2021). कश्मीर: चौराहे पर खड़ा एक क्षेत्र. येल यूनिवर्सिटी प्रेस।
5. चौधरी, जे.बी. (2012). कश्मीर समस्या: ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य. नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन।
6. गांगुली, सुमित (2016). भारत–पाकिस्तान संबंध और कश्मीर: एक घातक गतिरोध. कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस।
7. गांगुली, सुमित एवं बाजपेयी, कांती (1994). भारत और पाकिस्तान: संघर्ष की जड़ें. नई दिल्ली।
8. भारत सरकार (2005). जम्मू-कश्मीर के लिए प्रधानमंत्री की पहलें. नई दिल्ली: भारत सरकार प्रकाशन।
9. भारत सरकार (2019). जम्मू और कश्मीर पुनर्गठन अधिनियम, 2019. नई दिल्ली: विधि मंत्रालय।
10. मेनन, वी.पी. (1956). भारतीय रियासतों का एकीकरण. नई दिल्ली: ओरिएंट लॉन्गमैन।
11. नूरानी, ए.जी. (2011). अनुच्छेद 370: जम्मू-कश्मीर का संवैधानिक इतिहास. नई दिल्ली: ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।
12. नूरानी, ए.जी. (2020). अनुच्छेद 370 और संवैधानिक विमर्श. नई दिल्ली।
13. पंडित, सत्य (2013). कश्मीरी पंडितों का पलायन: एक सामाजिक अध्ययन. नई दिल्ली।
14. योजना आयोग, भारत सरकार (2014). जम्मू-कश्मीर विकास रिपोर्ट. नई दिल्ली।
15. राघवन, श्रीनाथ (2010). आधुनिक भारत में युद्ध और शांति. नई दिल्ली: पालग्रेव मैकमिलन।
16. राघवन, श्रीनाथ (2013). 1971: बांग्लादेश निर्माण का वैश्विक इतिहास. हार्वर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।
17. राय, मृदुला मुखर्जी (2004). हिंदू शासक, मुस्लिम प्रजा: कश्मीर का ऐतिहासिक अध्ययन. प्रिंसटन यूनिवर्सिटी प्रेस।
18. संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद (1948–1949). कश्मीर पर प्रस्ताव एवं अभिलेख. न्यूयॉर्क: संयुक्त राष्ट्र।

19. संयुक्त राष्ट्र मानवाधिकार परिषद (2020). कश्मीर में मानवाधिकार स्थिति पर रिपोर्ट. जिनेवा।
20. एमनेस्टी इंटरनेशनल (2015). कश्मीर में मानवाधिकार और जवाबदेही. लंदन।
21. वर्शनी, अशुतोष (2019). भारत में जातीय संघर्ष और नागरिक जीवन. येल यूनिवर्सिटी प्रेस।